इकाई 20 इतिहास लेखन में उभरते विषय*

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 पर्यावरणीय इतिहास

20.3 श्रम-इतिहास (Labour History)

20.4 स्त्रियों का इतिहास

20.5 सारांश

20.6 शब्दावली

20.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

20.8 संदर्भ ग्रंथ

20.9 शैक्षणिक वीडियो

20.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप सक्षम होंगेः

- भारत में इतिहास लेखन की कुछ नई प्रवृत्तियों की प्रकृति को समझने में, और
- इस पर विचार करने में कि किस प्रकार ये नए विषय भारत में इतिहास लेखन की नई दिशाओं को आकार दे रहे हैं।

20.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम भारतीय इतिहास लेखन में उभर रहे कुछ विषयों पर नज़र डालेंगे। अब तक आप सबाल्टर्न अध्ययन तक की इतिहास लेखन की प्रवृत्तियों को जान चुके हैं। आपने देखा है कि किस तरह नई प्रविधियों और नए स्रोतों की खोज ने सबाल्टर्न अध्ययन के लेखन को प्रभावित किया है जिसका परिणाम भारत में 'नीचे से इतिहास को देखने' की शुरुआत में निकला। इसी प्रकार पर्यावरणीय इतिहास, श्रम-इतिहास और स्त्रियों के इतिहास के क्षेत्र में नए प्रश्न सामने आए और इनका उत्तर प्रस्तुत करते हुए इतिहासकारों ने इन ज्ञानक्षेत्रों, कार्यक्षेत्रों तथा प्रभाव-क्षेत्रों को भारतीय इतिहास लेखन की उभरती हुई प्रवृत्तियों तथा प्रतिमानों के रूप में प्रस्तुत किया। निस्संदेह इतिहास लेखन में विभिन्न कालों के संबंध में राजव्यवस्था, अर्थव्यवस्था तथा समाज के परंपरागत क्षेत्रों में नए प्रश्न भी नई विषय-वस्तुओं को सामने लाए हैं। इनमें से कुछ को हमने पहले की इकाइयों में रेखांकित किया है। यहाँ हम पर्यावरण, श्रमिकों और महिलाओं के इतिहास-संबंधी अध्ययनों के कुछ प्रतिदर्श उदाहरणों को ध्यान में रखेंगे जो स्वयं को भारतीय इतिहास लेखन में हो रहे नवीन कार्यों के साथ उभरते हुए विषयों के रूप में पेश कर रहे हैं।

20.2 पर्यावरणीय इतिहास

पर्यावरणीय इतिहास के क्षेत्र में अतीत और वर्तमान के **पर्यावरणीय संकट** की स्पष्ट जागरूकता प्रतिबिंबित होती है। पर्यावरण तथा इसकी मानव व मानव-निर्मित सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं के साथ अंतर-क्रिया का प्रश्न हमेशा से ही भारतीय इतिहास लेखन में विभिन्न कालों के संबंध में सामने आता रहा है। रोमिला थापर और इरफ़ान हबीब जैसे विद्वानों ने पहले ही प्राचीन और मध्यकालीन समय में मनुष्य के पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभाव पर टिप्पणी की है। इसी प्रकार आधुनिक

* श्री अजय माहुरकर, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

काल के लिए रिचर्ड ग्रोव ने औपनिवेशिक काल में इतिहासकारों द्वारा सामने लाई गईं पर्यावरण की समस्याओं को रेखांकित करने के लिए *ग्रीन इंपीरियलिज़्म* नाम से एक पुस्तक लिखी जो हमें औपनिवेशिक शासकों द्वारा भारत में तथा अन्य देशों में उजागर किए गए पर्यावरण के मुद्दों का तुलनात्मक अध्ययन प्रदान करती है।

भारतीय पर्यावरण-संबंधी इतिहास को नई दिशा में ले जाने वाली कृतियों में से रामचंद्र गुहा की *अनक्वाइट वुड्ज़* अग्रणी है। इसमें गुहा अपने समय में बड़ी संख्या में सामने आ रहे हैं कृषक इतिहासों के परिप्रेक्ष्य में लिखते हुए यह तर्क रखते हैं कि सामाजिक और आर्थिक उत्पादन तंत्र पारिस्थितिकीय विशेषताओं, जैसे जीव, वनस्पति तथा जलवायु, द्वारा निर्धारित होते हैं। ऐसा करते हुए वह इस ओर संकेत करते हैं कि इन सामाजिक-आर्थिक तंत्रों में वन्य पारिस्थितिकी में होने वाले बदलाव के साथ परिवर्तन आते रहे हैं। चूँकि औपनिवेशिक तथा उत्तर-औपनिवेशिक व्यवस्था ने अत्यधिक सीमा तक वन्य परिस्थितिकी को बदल कर रख दिया था अतः इन परिवर्तनों के विरुद्ध प्रतिरोध उठ खड़ा हुआ जिसकी जड़ें अपने समय की प्रशासनिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं के विरुद्ध किसानों के प्रतिरोध की परंपराओं में निहित थीं।

जैसा कि माइकल रेनॉल्ड्स गुहा की पुस्तक की समीक्षा में संकेत करते हैं:

> 1815 से 1949 के बीच ब्रितानियों ने इस क्षेत्र (उत्तराखंड) को दो सामाजिक-राजनीतिक तंत्रों – कुमाऊँ तथा टिहरी गढ़वाल – में विभाजित किया था। टिहरी गढ़वाल का पूर्वी क्षेत्र कुछ कम सामरिक महत्व का था जिसका शासन परंपरागत राजा के हाथ में था। कुमाऊँ का पश्चिमी क्षेत्र तिब्बत के साथ वाणिज्य व व्यापार के लिए महत्वपूर्ण था। उसका शासन ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा एक औपनिवेशिक अधिक्षेत्र के रूप में 1949 तक किया जाता रहा। 19वीं शताब्दी के मध्य से कुमाऊँ और टिहरी गढ़वाल लगभग समान पारिस्थितिकीय परिवर्तन की प्रक्रिया से गुज़रे। वनों के दोहन के जर्मन नमूने पर आधारित 'वैज्ञानिक वानिकी' ने किसानों से वनों का नियंत्रण छीन लिया। विभिन्न प्रजातियों वाले वनों को वाणिज्यिक रूप से महत्वपूर्ण शंकुधारी वृक्षों (conifers) के समरूप वनों में बदल देने वाली नई नीतियों को लागू किया गया। इन नए कानूनों को इन दोनों क्षेत्रों में लागू किया गया जो केवल निजी स्वामित्व को मान्यता देते थे, इस प्रकार उन परंपरागत समुदायों को खंडित करते हुए वानिकी के प्रबंधन की परंपरागत व्यवस्थाओं को खतरा प्रस्तुत किया जिन्होंने इन वनों को सदियों से बनाए रखा था। जैसा कि गुहा ने दर्शाया है, परंपरागत सामुदायिक रीतियों का व्यक्तिगत अधिकार वाली व्यवस्था के साथ इस प्रतिस्थापन ने किसानों और वनों के बीच अलगाव पैदा किया और उनकी तबाही को और तीव्र बना दिया। इन दोनों क्षेत्रों में होने वाले पारिस्थितिकीय और आर्थिक परिवर्तनों के बीच कई समानताएँ होने के बावजूद किसानों ने इन दोनों क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न तरीकों से प्रतिरोध किया। शुरुआती तौर पर, परंपरागत रूप से मान्यता प्राप्त धैर्ययुक्त प्रतिरोध (passive resistance) के रूप में *ढांडक*, जिसे उस नेता के विरुद्ध प्रयोग किया जाता था जो अपनी प्रजा के अधिकारों की रक्षा करने में असफल रहता था, का तरीका कुमाऊँ तथा टिहरी गढ़वाल, दोनों ही स्थानों, में देखने को मिला था। टिहरी गढ़वाल में किसान सांस्कृतिक रूप से मान्यता प्राप्त तरीके से विरोध करने में लगे रहे। वे जो कुमाऊँ में विरोध कर रहे थे धीर-धीरे उन्होंने अधिक जुझारू तरीका अपनाया। कुमाऊँ का औपनिवेशिक प्रशासन अपनी प्रजा के जीवन में अपना दख़ल लगातार बढ़ाता जा रहा था। औपनिवेशिक शासकों ने एक युक्तियुक्त समरूप कर-ढाँचे को लागू किया तथा अंततः किसानों को सभी प्रकार की वन्य भूमियों से बाहर कर दिया गया। जब ये नीतियाँ लागू हो रही थीं शासन के इन कृत्यों के प्रति किसानों का प्रतिरोध भी अपेक्षाकृत *ढांडक* की प्रशांत रणनीति से अधिक जुझारू प्रतिरोध में बदल गया।

गुहा के शोध की विशेषता यह दिखाने का प्रयास है कि किस तरह उपनिवेशवाद ने प्राकृतिक पर्यावरण को ध्वस्त किया और इसका परिणाम शासन के प्रति प्रतिरोध में निकला। इस अर्थ में इसमें उपनिवेशवाद से पूर्व के आदर्शवादी और रूमानी अतीत के प्रति एक ललक नज़र आती है जहाँ इस तरह का ध्वंस न्यूनतम था। गुहा ने अपने इस विचार को ऐतिहासिक रूप से प्राकृतिक वैज्ञानिक माधव गाडगिल के साथ लिखी गई नई पुस्तक *दिस फ़िशर्ड लैंड* में बहुत हद तक दुरुस्त किया है जहाँ वे दर्शाते हैं कि किस प्रकार भारत में युद्ध, बीमारी तथा साम्राज्य निर्माण की शक्तियों ने ग्रामीण जीवन तथा जीविका को ध्वस्त और विस्थापित किया। इतिहासकार डेविड आर्नोल्ड के साथ मिलकर लिखी गई एक अन्य रचना *नेचर, कल्चर एंड इंपीरियलिज़्म* में गुहा जीवन-निर्वाह तथा उत्पादन के सीमांत स्वरूपों, जैसे खानाबदोश पशुचारण, पर ध्यान केंद्रित करते हैं जो आबाद कृषि क्षेत्रों से परे था। वह दर्शाते हैं कि इन व्यवस्थाओं में स्वयं को नए रूप में ढालने की क्षमता थी, यदि शासकों द्वारा पर्यावरण-हितैषी

नीतियों का अनुकरण किया जाता था। वस्तुतः उन्होंने उत्पादन तथा जीवन-निर्वाह के तंत्रों के सामुदायिक नियंत्रण की वकालत की है जिसका परिणाम एक प्रकार के पारिस्थितिकीय सामंजस्य के उदय में निकलेगा।

अन्य प्रमुख पर्यावरणीय इतिहासकार महेश रंगराजन का गुहा के शोध के प्रति भिन्न नज़रिया है। उनका मत है कि पर्यावरणीय इतिहास को मात्र उत्पादन व्यवस्था या राजनीतिक-अर्थव्यवस्था के रूप में नहीं पढ़ा जाना चाहिए जैसा कि गुहा ने किया है। उनका तर्क है कि पर्यावरणीय इतिहास के लिए महत्वपूर्ण है उत्पादन तंत्र से स्वायत्त रूप में जीवों, वनस्पतियों और जलवायु, इत्यादि के इतिहास की ओर अग्रसर होना। उनके अनुसार, यह हमें यह समझने में समर्थ बनाएगा कि पारिस्थितिकी पर मानव के पदचिह्न अतीत में बहुत पीछे तक जाते हैं और हमें अतीत के पारिस्थितिकीय भू-दृश्यों में मानवीय हस्तक्षेप से आने वाले परिवर्तनों को देखने में सक्षम बनाते हैं। दूसरे शब्दों में, अतीत में पारिस्थितिकी और पर्यावरण के साथ मानव संक्रिया से बहुत कुछ सीखने को है और पर्यावरण में मानवीय हस्तक्षेप के इतिहास को निरंतरता में देखने की ज़रूरत है, यद्यपि औपनिवेशिक तथा आधुनिक समय में इसके द्वारा होने वाले परिवर्तन तथा हस्तक्षेप का आकार और मात्रा काफ़ी बड़े स्तर के हैं। यह परिकल्पना अधिकांश ऐतिहासिक लेखनों में मज़बूती के साथ नज़र आने वाली साम्यता तथा सुसंगतता के स्वर्ण काल के विचार में सुधार करती है। जैसा कि वह कहते हैं:

> तथापि इस बात पर बल देना महत्वपूर्ण है कि दीर्घकालिक इतिहास पहले से ही और लंबे समय से चले आ रहे मानव-प्रेरित परिवर्तनों के विषय में याद दिलाता है। जैसा कि ऊपर तर्क दिया गया है, जनसांख्यिकीय तथा आर्थिक विस्तार ने साथ में मिलकर श्रम की उपलब्धता में कमी को समाप्त किया लेकिन साथ ही खेती योग्य भूमि की कमी को भी बढ़ावा दिया। यह एक अनूठी बात थी और भारत के लिए एक अभूतपूर्व ऐतिहासिक मोड़ था। इससे पहले भू-परिदृश्य में वन, झाड़ी या दलदली भूमि का प्रयोग अत्यंत कम से लेकर अत्यधिक सघनता लिए हुए था जिसके मध्य में खेती की भूमि के नख़लिस्तान (oases) स्थापित थे। इसके ठीक विपरीत दृश्य पिछली कुछ सदियों, विशेष रूप से पिछली दो सदियों, के युगांतरकारी परिवर्तनों का प्रमुख परिणाम है। किंतु इनमें से प्रत्येक सूत्र – मानव की जनसंख्या में वृद्धि, संपत्ति की मात्रा में वृद्धि, खेती का विस्तार या नगरीकरण का फैलाव – ये सब पहले के उदाहरणों पर ही आधारित हैं। मानव का पारिस्थितिकीय पदचिह्न कोई नई बात नहीं है। नियंत्रण और विजय की नई प्रौद्योगिकियों के कारण यह पुराने तरीके के संबंध से कहीं अधिक विस्तृत हुआ है ताकि विभिन्न प्रकारों से प्रकृति पर वर्चस्व और उसका दोहन किया जा सके या उसकी घेरेबंदी, उसका घरेलूकरण और उसको नए रूप में ढाला जा सके।

रंगराजन उन कई नए प्रकार के स्रोतों का उल्लेख करते हैं जिनका इतिहासकार इस तरह के इतिहास के पुनर्निर्माण में प्रयोग करते हैं। उन्होंने इस ओर संकेत किया है कि किस प्रकार चित्रकला, साहित्य तथा पुरातात्विक स्रोतों को स्थानीय समुदायों के ज्ञान के साथ पर्यावरणीय इतिहास के अतीत को सामने लाने के लिए इन्हें अभिलेखागारों में मौजूद साक्ष्यों के साथ उपयोग में लाया जाता रहा है। दूसरी ओर, गुहा मुख्यतः अभिलेखागारों में व्यवस्थित दस्तावेज़ों को पर्यावरण के इतिहास के अपने विवरण में प्रयुक्त करते हैं। ये दोनों ही विद्वान अंतर-विषयक (interdisciplinary) तथा बहु-विषयक (multidisciplinary) दृष्टिकोण का उपयोग करते हुए विभिन्न सामाजिक विज्ञानों तथा प्राकृतिक विज्ञानों के साथ संवाद करते हुए अपने प्रश्नों और तर्कों को आकार देते हैं।

बोध प्रश्न-1

1) क्या रामचंद्र गुहा की पर्यावरणीय इतिहास पर लिखी गई रचनाएँ अतीत को एक आदर्शवादी और रूमानी अंदाज़ में याद करती हैं? चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

2) पर्यावरणीय इतिहास लेखन के प्रति महेश रंगराजन के दृष्टिकोण पर टिप्पणी कीजिए।

.....

.....

.....

20.3 श्रम-इतिहास (Labour History)

श्रम के इतिहास के क्षेत्र में भी हम नई प्रवृत्तियों को उभरते हुए देख रहे हैं। भारत में श्रम-इतिहास का लेखन 20वीं शताब्दी की शुरुआत में विद्वानों, व्यापार संघों और राष्ट्रवादी आंदोलन से जुड़े कार्यकर्ताओं के एक समूह द्वारा शुरू किया गया था जो भारतीय समाज को आकार दे रहे पूँजीवादी तथा औपनिवेशिक गठबंधन का विरोध करते थे। इस समूह के कई लोग कामगार वर्ग तथा राष्ट्रवादी प्रतिरोधों व व्यापार संघों की गतिविधियों से जुड़े हुए थे। भारत के विकास के इस चरण में पूँजीवादी संबंधों का चरित्र इस समय स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं था और न ही कामगार वर्ग की प्रकृति सुपरिभाषित थी। इसके बजाय यह सामाजिक संबंधों की अपरिपक्वता तथा संक्रमण का चरण था जिसे इस समूह ने समझने तथा विश्लेषित करने की कोशिश की।

श्रमिकों पर शुरुआती लेखन कामगारों के चल रहे संघर्षों की सूचना, भागीदारी करने वाले पर्यवेक्षकों की टिप्पणियों और थोड़ा-बहुत ऐतिहासिक विवरणों का मिलाजुला रूप लिए हुए था। दीवान चमन लाल, जिन्होंने *कुलीः स्टोरी ऑफ़ लेबर एंड कैपिटल इन इंडिया* की रचना की थी, जैसे लेखकों के कार्य की यही प्रकृति थी। व्यापार संघ के नेताओं ने भी इसी प्रकार के विवरण लिखे थे। दूसरी ओर, हमारे पास श्रमिकों की स्थितियों तथा इतिहास के सरकारी औपनिवेशिक प्रतिवेदन उपलब्ध थे जिन्होंने व्यापार संघ के नेताओं के विवरणों में निहित पक्षपातपूर्ण रवैये को प्रस्तुत करने का प्रयास किया था। इस प्रकार की शैली के लेखन में वेरा एंस्टे की रचनाएँ शामिल हैं जिन्होंने भारत में श्रम की सीमित गतिशीलता, पर्याप्त श्रम उपलब्ध होने में मुश्किलों तथा श्रमिकों की निम्न उत्पादकता और थोड़ा-बहुत कामगार वर्गों के जीवन-स्तरों तथा काम की परिस्थितियों के विषय को केंद्र में रखा था। 1930 के दशक में मंदी की शुरुआत के साथ हम कामगार वर्गों के काम के हालातों पर और भी लेखन और प्रतिवेदनों को सामने आते देखते हैं। कामगार वर्गों पर एस. जी. पनादिकर और राधाकमल मुखर्जी जैसे लेखकों की कृतियाँ इस समय सामने आईं। इस चरण में श्रमिकों का इतिहास लेखन उचित ऐतिहासिक अनुसंधान के दृष्टिकोण से परिचित नहीं था। इसके अतिरिक्त, श्रमिक-संबंधी अध्ययन जो सामने आए वे यूरोपीय विचार की श्रेणियों से प्रभावित थे और अक्सर ही दक्षिण एशियाई अर्थव्यवस्था और पूर्व-पूँजीवादी संबंधों की निरंतरता को ध्यान में रखने में असफल रहे थे। यह विशेष रूप से रजनी पाम दत्त जैसे मार्क्सवादी विद्वानों तथा ग्रेट ब्रिटेन के साम्यवादी दल (Communist Party) के विद्वानों के लेखनों में नज़र आता था।

मार्क्सवादी विचार से विश्लेषण की श्रेणियों (categories) को जस-का-तस ग्रहण करने और प्रयोग करने की प्रवृत्ति भारत के श्रम-संबंधी लेखन की भी प्रमुख विशेषता बनी रही। इसका परिणाम अक्सर संगठित श्रम के दायरे के बाहर के कामगारों के काम की परिस्थितियों को नज़रअंदाज़ करने में निकला। जैसा कि प्रोफ़ेसर एस. भट्टाचार्य कहते हैं:

> श्रम-इतिहास के संबंध में रचा गया समस्त साहित्य हमेशा से ही संगठित क्षेत्र में औद्योगिक श्रम-बल पर अत्यधिक केंद्रित रहा है जो अनौपचारिक या असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले कामगारों की बड़ी संख्या – निर्माण, यातायात (जिसमें रेलवे शामिल नहीं है जो कि स्पष्ट रूप से संगठित क्षेत्र का उद्यम है) जैसे पेशों में कार्यरत मजदूर, ऐसे शहरी गरीब जो अनियमित रूप से विभिन्न प्रकार के सेवा-क्षेत्रों में रोज़गार पाते थे, जैसे दुकानों या लघु स्तर के उद्योगों में, और ऐसे प्रवासी मजदूरों को तो ध्यान में रखना ही होगा जो वर्ष के एक भाग में शहरी श्रमबल की परिधि पर मौजूद रहते थे और वर्ष के दूसरे हिस्से में कृषि श्रमिकों के रूप में नियोजित रहते थे – को छोड़ देता है। अपवाद स्वरूप कुछ शोधकर्ताओं, जैसे जान ब्रेमेन, ने अध्ययन के क्षेत्र में इन ऐतिहासिक या समकालीन समस्याओं को संबोधित किया है। लंबे विलम्ब के बाद 1970 के दशक में एक दक्षिण भारतीय शहर का श्रम सर्वेक्षण सामने आया, असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले उन श्रमिकों के आँकड़ों के पूर्ण अभाव की समस्या को ध्यान में रखते हुए जो इस शोधार्थी के अनुमान में कुल श्रमबल का 45 प्रतिशत या उससे भी अधिक थे। इतिहासकारों या अन्य समाजविज्ञानियों का ध्यान संगठित क्षेत्र पर अंशतः इसलिए भी केंद्रित था क्योंकि इसमें विश्लेषण के लिए तैयार आँकड़े उपलब्ध रहते थे। किंतु सम्भवतः इससे भी महत्वपूर्ण – विशेष रूप से जिनका समाजवाद के प्रति झुकाव था – थी कारखानों के कामगारों की एक रूढ़ (stereotypical) छवि जो श्रमिक वर्गों के बीच उनकी भूमिका को उन्नत वर्ग के रूप में पेश करती थी।

इस प्रकार संगठित श्रम पर केंद्रित यह ध्यान उन कामगार जनों की विशाल संख्या को अपने विवरणों से बाहर कर देता था जो औपनिवेशिक तथा बाद के समय में विकासशील अर्थव्यवस्थाओं के विभिन्न

क्षेत्रों में मौजूद थे। इसने ऐतिहासिक विवरणों में इन कामगार वर्गों को स्थान देने के लिए नई प्रकार की पद्धतियों, उपागमों (paradigms) तथा स्रोतों की खोज हेतु प्रेरित किया। जैसा कि प्रोफ़ेसर सब्यसाची भट्टाचार्य ने संकेत किया है कि संभवतः 'श्रमशील निर्धन' की श्रेणी औपनिवेशिक तथा विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में विभिन्न प्रकार के क्षेत्रों में कार्यरत विभिन्न प्रकार के श्रमिकों को ध्यान में रखने में समर्थ बनाएगी। इस प्रकार की श्रेणी राजनीतिक दलों की युक्तियों से बाहर निकलने हेतु लाभदायक होगी जो केवल कारखानों में मौजूद संगठित श्रमिकों को ही शोध के योग्य श्रमिक मानते हैं और इस प्रकार कामगार जनों के एक बड़े भाग को श्रम-संबंधी अध्ययनों के दायरे में लाएगी जिन्हें अब तक इससे बाहर रखा गया है। यहाँ कानपुर के वस्त्र उद्योगों में कार्यरत श्रमिकों पर चित्रा जोशी का शोध या असम के चाय बाग़ानों में कार्यरत श्रमिकों पर राणा बहल का शोध ऐसे इतिहासकारों के कार्यों के रूप में उद्धृत किया जा सकता है जो कारखानों के श्रमिकों के उपागम से बाहर निकल कर देख रहे थे। इस संदर्भ में वी. वी. गिरी राष्ट्रीय श्रम संस्थान में किए गए श्रम-इतिहास पर शोध ध्यान देने योग्य है जिसने इतिहास लेखन के इस आयाम को और भी आगे बढ़ाया। वह महिलाओं, विदेशों में कार्यरत श्रमिकों तथा प्रवासी श्रमिकों को श्रम-इतिहास के दायरे में लाए। महिला श्रम पर समिता सेन, गुजरात के अस्थायी प्रवासी मजदूरों पर जान ब्रेमेन या गिरमिटिया (indentured) प्रवासी मजदूरों पर आशुतोष कुमार का शोध, अध्ययन की एक नई लहर लेकर आया जो श्रम-इतिहास को नई दिशाओं की ओर ले गया है।

जैसा कि प्रोफ़ेसर एस. बी. उपाध्याय ने इतिहास की प्रवृत्तियों के अपने सर्वेक्षण में कहा है:

> इस चरण में परंपरागत श्रम-इतिहास की अत्यधिक प्रखर आलोचना हुई है, नए क्षेत्रों की ओर बढ़ते हुए। श्रम-इतिहास में यह नया उभार न केवल भारत के विभिन्न क्षेत्रों में श्रमिकों से संबंधित व्यापक अभिलेखागार-संबंधी सामग्री को सामने लाता है बल्कि नई सैद्धांतिक सीमाओं के पार जाता है। इसने बड़े स्तर पर पुनर्विचार को बढ़ावा दिया जिसने कई पुरानी श्रेणियों (categories), जिनमें सबसे महत्वपूर्ण श्रेणी 'वर्ग' थी, पर प्रश्न खड़े किए हैं। उदाहरण के लिए, एस. भट्टाचार्य ने मूल रूप से यह प्रस्ताव दिया कि विश्लेषणात्मक रूप से भारतीय संदर्भ में श्रमिकों के लिए ''श्रमशील निर्धन'' जैसी ''गैर-वर्गीय'' श्रेणी का उपयोग करना अधिक उचित है। उन्होंने इस पारिभाषिक शब्द को उन 'निर्धनों के व्यापक हिस्से से जोड़ा जिनके जीवन-निर्वाह का मुख्य माध्यम इन विभिन्न रूपों में उनकी श्रम शक्ति का उपयोग है'। अपने बाद के एक लेख में उन्होंने इसकी पुष्टि की कि 'पारिभाषिक शब्द ''श्रमशील निर्धन'' ... का एक कार्यशील युक्ति के रूप में उपयोग दक्षिण के देशों में श्रम पर इतिहासलेखन के ढाँचे को और विस्तार देने के लिए हमारे उद्देश्यों के लिए पर्याप्त है। यह एक उपयोगी संकाल्पनिक आधार है'। यह प्रतीत होता है कि यह पारिभाषिक शब्द क्रमिक रूप से भारतीय श्रम इतिहासकारों द्वारा स्वीकृत किया जा रहा है (उदाहरणार्थ, बहल और लिंडेन)। संस्कृति पर अत्यधिक बल और लिंग (gender) तथा अनौपचारिक श्रम (informality) जैसे शोध के नए क्षेत्रों के उभरने की सम्भावना अन्वेषण के लिए बिल्कुल ही नए क्षेत्र होंगे।

इन नए अध्ययनों का श्रम-इतिहास पर यह दृष्टिकोण 'नीचे से इतिहास (history from below) को देखने वाले इतिहासकारों', इतिहास-वंचित लोगों के इतिहास और सबाल्टर्न अध्ययन के लेखन से बहुत हद तक सहसंबंधित रहा है। इनके विषय में आप पहले ही पढ़ चुके हैं। इन इतिहासकारों ने तंज़ानिया, नाइजीरिया तथा अन्य अफ़्रीकी देशों और विकासशील देशों में इसी प्रकार के ऐतिहासिक लेखन की तुलना से भी बहुत कुछ ग्रहण किया है जो समान रूप से संगठित कारखाना श्रमिकों के उपागम से दूर हट रहे हैं और अपने देशों के श्रमशील निर्धनों पर ध्यान केंद्रित कर रहे हैं।

यद्यपि यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि असंगठित श्रम या अनौपचारिक श्रम पर विश्लेषणात्मक ध्यान का परिणाम औपचारिक-अनौपचारिक श्रम या संगठित-असंगठित श्रम के बीच कठोर विभाजन में नहीं निकला है। नए श्रम-इतिहासों ने हमें इस संबंध में भी जागरूक बनाया है कि श्रम के संसार को परस्पर अंतर-संबंधित रूप में देखना चाहिए। अंततः कारखाने का संगठित श्रमिक अपने ग्रामीण संपर्कों को बनाए रखता है जहाँ वह समय-समय पर अनौपचारिक श्रमिक के रूप में भी कार्य कर सकता है। इस तरह के कठोर अंतर का यह भी अभिप्राय होगा कि श्रम के इतिहास को संपूर्णता में नहीं देखा जा सकेगा। जैसा कि प्रोफ़ेसर एस. बी. उपाध्याय कहते हैं:

> नए श्रम-इतिहास में औपचारिक-अनौपचारिक, औद्योगिक-कृषिक, स्वतंत्र-अस्वतंत्र श्रम का यह द्विभाजन पुरानी बात मान ली गई है जो वास्तविक श्रम रूपों तथा उनके अंतर-संबंधों की प्रक्रिया के वास्तविक शोध को बाधित करता है। इतिहासकारों को यह अनुभव हुआ है कि न केवल इस

प्रकार के अंतर व्यावहारिक रूप से कोई अस्तित्व रखते हैं बल्कि विश्लेषणात्मक रूप से भी समस्यापूर्ण हो सकते हैं। इतिहास के विमर्श में इस तरह की श्रेणियों का निर्माण कुछ विशेष प्रकार की विचार-पद्धतियों का परिणाम है जो उत्तर-प्रबोधन युग में प्रचलित हुई थीं जब इस तरह के कई द्विभाजनों और उनके पदसोपानक्रमों को तय किया गया। इस प्रकार के द्विभाजन में एक प्रकार के हिस्से को दूसरे पर विशेषाधिकार दिया गया था। इस प्रकार ऐसी कार्यशैली या विचारधारा ने विश्लेषण की युक्ति (analytical tool) को भी सही-ग़लत के मूल्य निर्धारण में बदल दिया था। इस प्रकार के अंतर को दूर करके साथ-साथ अस्तित्व में रहने वाले विभिन्न प्रकार के श्रम स्वरूपों, जो एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं, का अध्ययन संभव है। इसके साथ ही उनके स्थानीय रिहायशी क्षेत्रों की निरंतरता के साथ सामान्य रूप से नगरीय संरचना का अध्ययन भी संभव है। इस प्रकार के अनुसंधान हमें उन सामाजिक परिवेशों की ओर ले जाएंगे जहाँ से ये श्रमिक निकले थे और साथ ही उन सामाजिक और सांस्कृतिक स्वरूपों की ओर भी जिन्होंने श्रमिकों की संरचना, व्यवहार और गतिशीलता की प्रकृति को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। यह अविश्वसनीय रूप से अनुसंधान के दायरे को काफ़ी विस्तृत कर देगा।

20.4 स्त्रियों का इतिहास

हाल के वर्षों में भारत में स्त्रियों के इतिहास से संबंधित रचनाएँ बड़ी संख्या में सामने आई हैं। इतिहास लेखन में विश्लेषण की युक्ति के रूप में लैंगिकता का अधिक उचित उपयोग हुआ है। यह इतिहास लेखन के उन प्रधान उपागमों, जो पितृसत्तावादी ढाँचे के प्रभाव से संचालित थे और जो स्त्रियों की भूमिका को कमतर आँकते थे, के विरुद्ध कई संघर्षों के प्रयास का परिणाम है, जैसा कि जानकी नायर ने अपने लेखन में दिखाया है। इतिहास की पुनर्रचना के लिए महिला कार्यकर्ताओं, लेखकों तथा सामाजिक सुधारकों की आत्मकथाओं जैसे नए स्रोतों का अन्वेषण करने का प्रयास हो रहा है। और इसके साथ इस परियोजना के लिए मौखिक इतिहास के उपयोग व विश्लेषण का भी प्रयास हुआ है। प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास के क्षेत्र में इन विद्वानों के द्वारा लैंगिकता के दृष्टिकोण से नए प्रश्न ज्ञात स्रोतों के सम्मुख रखे जा रहे हैं ताकि लैंगिकता के नज़रिए से इतिहास को समझा जा सके। लेकिन, जैसा कि जानकी नायर संकेत करती हैं कि नारीवादी लेखन का मुख्यधारा के इतिहास लेखन पर प्रभाव अपेक्षाकृत समस्यापूर्ण ही रहा है और अभी भी हमें मुख्यधारा के इतिहास में स्त्रियों के दृष्टिकोण से लिखे गए इतिहास के संबंध में किसी विशेष परिवर्तनकारी कार्य का इंतज़ार है।

स्त्रियों के इतिहास के शोध व लेखन की प्रक्रिया इतिहासकारों को स्त्रियों के आंदोलन की कुछ अग्रदूतों, जैसे पंडिता रमाबाई, लक्ष्मीबाई तिलक, ताराबाई शिंदे, तक ले गई हैं। उनकी आत्मकथाओं और संस्मरणों, इत्यादि के माध्यम से उनके लेखन की धारा व शैली **पितृसत्ता** के प्रति उनके प्रतिरोध का प्रदर्शन करती है। इन अध्ययनों ने उमा चक्रवर्ती जैसे स्त्रीवादी इतिहासकारों के कार्य को प्रेरित किया जिन्होंने अपने लेख 'व्हॉटएवर हैपेंड टू द वेदिक दासी' में राष्ट्रवादी इतिहासकारों, जैसे अल्तेकर, के वर्चस्वशाली उपागम को चुनौती दी जिन्होंने स्त्रियों के प्रश्न व मुद्दे को बिखरे हुए साक्ष्यों के आधार पर ही प्राचीन भारत में महिलाओं की गौरवशाली, उच्च स्थिति तक सीमित कर दिया था किंतु इन शोध-सामग्रियों में मौजूद ऐसे साक्ष्यों का परीक्षण नहीं किया जो वैदिक दासी जैसे सामाजिक समूहों की पीड़ा को सामने ला सके।

यह तर्क दिया जा सकता है कि उमा चक्रवर्ती, इत्यादि के अन्वेषण ने काल-विभाजन, सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति, इत्यादि के संबंध में प्रश्नों को उठाया किंतु जिस प्रकार इन विषयों को भारत की मुख्यधारा के इतिहास में देखा जाता है प्रभावशाली ढंग से वे उसमें ऐसा परिवर्तन नहीं कर सके। किंतु इसके फलस्वरूप जिसने एक केंद्रीय स्थान ग्रहण किया वह विश्लेषण की एक युक्ति के रूप में लैंगिकता की श्रेणी है। जैसा कि रोमिला थापर कहती हैं:

> लैंगिक इतिहास ऐतिहासिक विश्लेषण की एक आधारभूत श्रेणी बनता है जब इतिहास व्यक्तित्वों के बखान मात्र होने से आगे बढ़ता है और इतिहासकार उन संस्थाओं और संरचनाओं का विश्लेषण करना शुरू करते हैं जो समाज का निर्माण करती हैं। लैंगिक इतिहास को पितृसत्ता को उदासीन बनाने की आवश्यकता नहीं है। यह स्त्रियों को सत्ता-अधिकार और बहिष्कार के पदानुक्रमों की युक्तियों (instruments) या अभिकर्ताओं (agencies) के रूप में देखने की संभावना को बढ़ा सकता है।

यही वह धारा है जिसमें हम कुमकुम रॉय के शोध को देखते हैं जिन्होंने वैदिक काल में राजतंत्र (monarchy) के उदय का विश्लेषण किया और यह दिखाया कि किस प्रकार अनुष्ठानों द्वारा प्राप्त

वैधता के माध्यम से राजा उत्पादक और पुनरोत्पादक शक्तियों के नियंत्रणकर्ता के रूप में उभरा। इसी के साथ वह यह भी दर्शाती हैं कि गृहस्थ के क्षेत्र में किस प्रकार *यजमान* (अर्थात अनुष्ठानों का आयोजन व समापन करने वाला) घरेलू स्तर पर उत्पादक और पुनरोत्पादक संसाधनों के नियंत्रणकर्ता के रूप में उभरा। इस प्रकार लैंगिकता को पितृसत्तावादी नियंत्रण के विश्लेषण की श्रेणी के रूप में प्रयुक्त करते हुए रॉय लैंगिक इतिहास तथा मुख्यधारा के इतिहास के बीच की दीवार को गिराने में समर्थ हुईं।

इस प्रकार, जैसा कि उमा चक्रवर्ती ने इसे प्रस्तुत किया है:

> अवधारणा के स्तर पर अन्य जिन विषयों पर शोध किए गए उनमें जाति, वर्ग, पितृसत्ता व राज्य के बीच संबंध और प्राचीन भारत में परिवार की गतिशीलता शामिल हैं। इन अध्ययनों, जो लैंगिकता के अन्य संस्थानों के साथ संबंध के स्तर पर स्त्रियों के इतिहास का अन्वेषण करते हैं, के अतिरिक्त ऐसे अध्ययन भी हैं जो मिथकों और अन्य आख्यानों के बदलते स्वरूपों, वेश्यावृत्ति, मातृत्व, श्रमशील स्त्रियों, संपत्ति-संबंधों, दानदाताओं के रूप में स्त्रियों तथा शासकों के रूप में स्त्रियों का अध्ययन करते हैं। ये विवरण क्रमिक रूप से संकल्पनात्मक आधार को और मज़बूत करने तथा अल्तेकर, जिन्होंने प्राचीन भारत के संदर्भ में स्त्रियों के इतिहास के क्षेत्र पर वर्चस्व बनाए रखा है, के उपागम को ध्वस्त करने में सहायक हुए हैं। एक बड़ी कमी जो अभी भी हमारी समझ को सीमित करती है वह यह समझने का तरीका है कि किस प्रकार लैंगिकता एक सामाजिक व्यवस्था में अन्य संरचनाओं को आकार देती है और किस प्रकार बदले में स्वयं उनके प्रभाव में आकार ग्रहण करती है। **एम.एच.आई.-03, इकाई 17, 'जैंडर इन हिस्ट्री' पृ. 33**

प्राचीन काल के विपरीत मध्य काल के संबंध में लैंगिकता के दृष्टिकोण से अधिक शोध-कार्य सामने नहीं आए हैं। विद्वानों ने इस काल की रचनाओं में लैंगिकता पर ठोस रूप से ध्यान न दिए जाने पर क्षोभ प्रकट किया है। यद्यपि कुछ विश्लेषण, जैसे भक्ति काव्य और मीराबाई की स्थिति पर कुमकुम संगारी का अध्ययन, सुदृढ़ लैंगिक संवेदना प्रकट करते हैं और उन अध्ययनों की ओर संकेत करते हैं जो भविष्य में सामने आएँगे। इस काल के संबंध में भाषा, संपत्ति, विरासत, उत्तराधिकार, शाही परिवार की राजनीति, बहु-विवाह आधारित परिवार, इत्यादि की लैंगिक प्रकृति के संबंध में भी नए अध्ययन सामने आ रहे हैं जो लैंगिकता-केंद्रित इतिहास की ओर ले जा सकते हैं।

आधुनिक भारतीय इतिहास के क्षेत्र में, औपनिवेशिक तथा उत्तर-औपनिवेशिक काल, दोनों, के संबंध में स्त्रियों के इतिहास में कई महत्वपूर्ण योगदान सामने आए हैं। इन विद्वानों को विस्तृत अभिलेखागार-संबंधी उपलब्ध आंकड़ों से सहायता मिली है। इसके साथ ही इन प्रयासों को मौखिक इतिहास के क्षेत्र में किए जा रहे अनुसंधानों से पूर्णता मिली है। परिणामतः हम सुरुचि थापर ब्योकर्ट द्वारा राष्ट्रवादी आंदोलन के दौरान स्त्रियों की आवाज़ों, प्रयासों व संघर्षों को चिह्नित करने के संबंध में किए गए शोध को देखते हैं। कई विद्वान विश्लेषण के साधन के रूप में लैंगिकता का उपयोग करते हुए सामाजिक-आर्थिक प्रक्रियाओं और लैंगिक संबंधों का बारीक परीक्षण करने में समर्थ हुए हैं। इसमें औपनिवेशिक ढाँचों, जैसे कानून, का विश्लेषण अत्यंत महत्व का है। यहाँ औपनिवेशिक काल के दौरान विधवा पुनर्विवाह अधिनियम के अध्ययन ने स्त्रियों की इतिहास की हमारी समझ को पर्याप्त रूप से उन्नत बनाया है। इसी प्रकार बीना अग्रवाल का शोध दर्शाता है कि किस प्रकार भूमि जैसे उत्पादक संसाधनों से कानून स्त्रियों के वंचित करते थे। वह हमें महिलाओं की संकटपूर्ण स्थिति की राजनीतिक-अर्थव्यवस्था की एक परिपक्व समझ उपलब्ध कराती हैं। अध्ययन का एक अन्य दिलचस्प क्षेत्र महिलाओं की शिक्षा रहा है। शुरुआती तौर पर विद्वानों ने स्वयं को औपनिवेशिक भारत में सामाजिक सुधारकों के उदारवादी एजेंडे तक सीमित रखा था। अब चिट्ठियों, जीवनियों और आत्मकथाओं तथा ताराबाई शिंदे जैसे समाज-सुधारकों के संस्मरणों, इत्यादि के वैकल्पिक लेख-संग्रहों की सहायता से शोधकर्ता यह दिखाने में सक्षम हुए हैं कि किस प्रकार यह स्त्री-कार्यकर्ता अपने शैक्षिक और विद्यालयी जीवन में पितृसत्ता के विरुद्ध संघर्षरत रही थीं। संगठित और असंगठित श्रमिक-बल में महिलाओं को दस्तावेज़बद्ध करने के लिए कई लघु-प्रबंध ग्रंथ और अध्ययन भी सामने आए हैं। ये अनुसंधान महिलाओं को मिलने वाले असमान पारिश्रमिक के मुद्दों के साथ ही जाति, समुदाय-आधारित पितृसत्ता द्वारा उनके शोषण पर केंद्रित हैं। कोलार की स्वर्ण खानों में कार्यरत कामगारों पर जानकी नायर का शोध इस संदर्भ में महत्वपूर्ण है। महत्वपूर्ण रूप से कृषि क्षेत्र में महिलाओं के साथ घरेलू क्षेत्र में कार्यरत महिलाओं पर भी शोध-कार्य सामने आए हैं। इन शोध-कार्यों में विभिन्न प्रकार के संघर्षों में महिलाओं की भूमिका का आकलन किया गया है। इसके साथ ही यह दर्शाया गया है कि किस प्रकार जाति, समुदाय और धार्मिक पितृसत्ता महिलाओं के प्रतिदिन के जीवन में अपना प्रभाव बनाए रखते हैं।

विभाजन (partition) के इतिहास के क्षेत्र में स्त्रियों के इतिहास अपनी उपलब्धि को अधिक बेहतर ढंग से सामने रखते हैं। उमा चक्रवर्ती के निम्नलिखित उद्धरण को देखें:

> विभाजन के इतिहास के क्षेत्र में स्त्रीवादी इतिहासकारों द्वारा आधिकारिक, मुख्यधारात्मक/पुरुषधारात्मक और अभिजात्यवादी इतिहास की अपर्याप्तता को बताने और पूर्वाग्रहों की तीक्ष्ण आलोचना करने के लिए मौखिक इतिहास का प्रयोग विभाजन के इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। यहाँ महिलाएँ हाशिए के लोगों (marginalised people) – महिलाओं, बच्चों और दलितों – के नज़रिए से एक वैकल्पिक इतिहास लिखने हेतु अग्रदूत रही हैं। उन्होंने 'अपहृत' महिलाओं की बरामदगी एवं उनके पुनर्वास के विचारों के संदर्भ में राज्य व समुदाय की विचारधारा पर महत्वपूर्ण प्रश्न खड़े किए हैं और इस संबंध में हिंसा के दोहरे आयाम का महिलाओं द्वारा प्रथमतः पुरुषों के हाथों और तदंतर पितृसत्तावादी राज्य के हाथों, जो महिलाओं के अभिकर्तृत्व (agency)[1] से इनकार करता था क्योंकि यह समुदायों के समानांतर अपनी सीमाओं को निश्चित कर रहा था, अनुभव करने का उदाहरण दिया है। यह महत्वपूर्ण है कि स्त्रीवादी विद्वानों ने राष्ट्र के जन्म के समय से ही राष्ट्रवाद की एक व्यवस्थापूर्ण आलोचना प्रस्तुत की है। उनके इस अग्रणी कार्य को पहचान देना तो दूर, राष्ट्रवाद तथा उत्तर-औपनिवेशिक राज्य की उनके द्वारा की गई आलोचना को भी मुख्यधारा के इतिहासकारों द्वारा अभी गंभीरता से लिया जाना शेष है। यह संभवतः मुख्यधारा/पुरुषधारा के इतिहासकारों, इतिहास लेखन पर नियंत्रण बनाए रखने में जिनके निजी हित शामिल हैं, द्वारा अपना अकादमिक अभिक्षेत्र तय करने का परिणाम है। इसके अतिरिक्त मेरी नज़र में यह महिलाओं के द्वारा इस नए क्षेत्र में पदार्पण हेतु मार्गदर्शन को हाशिए पर धकेलने या उसे समाप्त कर देने के कार्यक्रम का हिस्से हैं और इस प्रकार मौलिकता तथा सैद्धांतीकरण, दोनों, पर एकाधिकार का दावा बनाए रखने के प्रयास हैं। विश्वविद्यालयों में उच्च स्तर पर नियुक्तियों के संदर्भ में स्त्रीवादी विद्वानों के विरुद्ध प्रतिक्रिया को देखते हुए, जो अभी जारी है, इस प्रकार से हाशिए (marginalisation) की ओर ढकेले जाने के राजनीतिक आयाम को गंभीरता से ध्यान में रखना होगा।
>
> **एम.एच.आई.-03, इकाई 17, 'जेंडर इन हिस्ट्री', पृ. 36**

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्त्रियों तथा लैंगिकता के इतिहास में उभर रही नई प्रवृतियाँ न केवल शोध के नए क्षेत्रों को खोल रही हैं बल्कि अकादमियों और इतिहासकारों में गहरी जड़ जमाए पितृसत्तावादी पूर्वाग्रहों को भी संबोधित कर रही हैं। इसका परिणाम भविष्य में जिस तरह से इतिहास को लिखा जाएगा उस पर महत्वपूर्ण परिवर्तनों के रूप में सामने आएगा।

बोध प्रश्न-2

1) सब्यसाची भट्टाचार्य की 'श्रमशील निर्धन' की श्रेणी के विचार की चर्चा कीजिए। यह किस प्रकार श्रम-इतिहास के लेखन को उन्नत बनाती हैं?

.....

.....

.....

2) किस प्रकार लैंगिक इतिहास के विश्लेषण के एक साधन के तौर पर उपयोग भारत में महिलाओं के इतिहास लेखन को आगे ले जाता है? टिप्पणी कीजिए।

.....

.....

.....

3) विभाजन के इतिहास के क्षेत्र में स्त्रियों के इतिहास की दिशा में क्या प्रयास किए गए हैं?

.....

.....

.....

20.5 सारांश

इस इकाई में आपने देखा कि किस प्रकार पर्यावरणीय इतिहास, श्रम-इतिहास तथा स्त्रियों के इतिहास इतिहासकारों के लिए अन्वेषण के नए क्षेत्रों के रूप में उभरे हैं। इन विषय-वस्तुओं के अंतर्गत

[1] व्यक्ति-विशेष की (इस संदर्भ में महिलाएँ) अपनी क्षमता के दोहन के लिए शक्ति एवं संसाधनों की क्षमता

नए प्रश्नों ने इतिहास लेखन को नई दिशा भी प्रदान की है। आपने यह भी देखा कि किस प्रकार नए ऐतिहासिक स्रोतों का इस्तेमाल और अंतर-विषयक दृष्टिकोण तथा 'श्रमशील निर्धन' या लैंगिकता जैसी नई वैचारिक, सैद्धांतिक एवं शोध-संबंधी बिंदुओं को अपनाना इतिहास को नई दिशाओं की ओर अग्रसर करने में सहायक हुआ है। किस प्रकार ये नवीन प्रवृत्तियाँ उभर कर आईं इस पर नज़र डालना आपको इतिहास लेखन की गतिशील प्रकृति को ग्रहण करने में सक्षम बनाएगा।

20.6 शब्दावली

पर्यावरणीय संकट — इस वाक्यांश का प्रयोग उन पर्यावरणीय समस्याओं, जिनका हम सामना कर रहे हैं और जिनका हमने अतीत में सामना किया है, को संयुक्त रूप से परिभाषित करने के लिए होता है। मुख्य समकालीन पर्यावरणीय समस्याओं में हरितगृह प्रभाव (greenhouse effect), भूमंडलीय ऊष्मीकरण (global warming) ओज़ोन परत में छिद्र, अम्लीय वर्षा (acid rain) तथा उष्णकटिबंधीय (tropical) वनों का नाश, इत्यादि शामिल हैं। पर्यावरणीय संकट के आयामों में नए उभरते ख़तरे, इनकी वैश्विक प्रकृति, तीव्र रूप से इनका बढ़ना और इन समस्याओं का निरंतरता का स्वरूप ले लेना शामिल हैं। अतीत में पर्यावरणीय संकट मुख्यतः विस्तृत रूप से वनों की कटाई तथा निर्वनीकरण से संबंधित था जिसने वनवासी लोगों को विस्थापित किया तथा कुछ बीमारियों को जन्म दिया

मार्क्सवादी विचार — 19वीं शताब्दी के विचारक कार्ल मार्क्स के दार्शनिक और ऐतिहासिक लेखन का संग्रह। यहाँ श्रम-इतिहास के संदर्भ में हम मुख्यतः उनके द्वारा प्रयुक्त 'वर्ग' (class) नामक श्रेणी का एक विश्लेषणात्मक साधन के रूप में प्रयोग की ओर संकेत करते हैं

पितृसत्ता — समाज या शासन का एक ऐसा तंत्र जिसमें पुरुषों के पास सत्ता होती है तथा स्त्रियाँ मुख्यतः इससे बहिष्कृत होती है। स्त्रियों का इतिहास, जैसा कि हमने ऊपर चर्चा की है, मुख्यधारा के ऐतिहासिक लेखनों में इस प्रकार के तंत्र के कारण पैदा होने वाले पूर्वाग्रहों के विरुद्ध संघर्षरत रहा है

20.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें भाग 20.2

2) देखें भाग 20.2

बोध प्रश्न-2

1) देखें भाग 20.3

2) देखें भाग 20.4

3) देखें भाग 20.4

20.8 संदर्भ ग्रंथ

बहल, राणा पी. और मार्सेल वैन डेर लिंडेन, (2007) *इंडियाज़ लेबरिंग पुअर* (दिल्लीः फ़ाउंडेशन बुक्स).

भट्टाचार्य, सब्यसाची, (2006) 'प्रस्तावना', *इंटेरनेशनल रिव्यू ऑफ़ सोशल हिस्ट्री,* संस्करण 51, परिशिष्ट 14: *कुलीज़, कैपिटल एंड कलोनियलिज़्मः स्टडीज़ इन इंडियन लेबर हिस्ट्री* (कैम्ब्रिजः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस).

चक्रवर्ती, उमा, (1989) 'व्हाटेवर हैपेंड टू वैदिक दासी', संगारी, कुमकुम और सुदेश वैद (संपा.) *रिकास्टिंग विमेनः एसेज़ इन इंडियन कोलोनियल हिस्ट्री* (नई दिल्लीः काली फ़ॉर विमन).

गुहा, रामचंद्र, (1990) *द अनक्वाइट वुड्सः इकोलॉजिकल चेंज एंड पैज़ेंट रैसिस्टेंस इन द हिमालयाज़* (बर्कलेः यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस).

गुहा, रामचंद्र, (2000) *इनवायरमेंटलिज़्मः अ ग्लोबल हिस्ट्री* (न्यूयॉर्कः लॉंगमैन).

नायर, जानकी, (1994) 'ऑन द क्वेस्चन ऑफ़ एजेन्सी इन इंडियन फ़ेमिनिस्ट हिस्टॉरीआग्रफ़ी', जेंडर *एंड हिस्ट्री,* भाग 6:1, पृ. 82-100.

लिंडेन, मार्सेल वैन डेर एवं प्रभु पी. महापात्रा, (सं.) (2009) *लेबर मैटर्सः टुवर्ड्स ग्लोबल हिस्ट्रीज़ः स्टडीज़ इन ऑनर ऑफ़ सब्यसाची भट्टाचार्य* (नई दिल्लीः तुलिका बुक्स).

नायर, जानकी, (2008) 'द ट्रबल्ड रिलेशनशिप ऑफ़ फैमिनिज़्म एंड हिस्ट्री, *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली,* 43, पृ. 43.

रंगराजन, महेश, (1996) *फ़ैसिंग द फॉरेस्टः कंज़र्वेशन एंड इकोलॉजिकल चेंज इन इंडियाज सेंट्रल प्रोविंसेस, 1860-1914* (दिल्लीः ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

संगारी, कुमकुम व सुदेश वैद, (सं.) (1989) *रिकास्टिंग विमेनः ऐसेज़ इन इंडियन कलोनियल हिस्ट्री* (नई दिल्लीः काली फ़ॉर विमेन).

20.9 शैक्षणिक वीडियो

इमर्जेन्स ऑफ़ विमेंस स्टडीज़ इन इंडिया
https://www.youtube.com/watch?v=mSYP-jn10fw

रिमैम्बरिंग द रोलिंग स्टोन ऑफ़ विमेंस मूवमेंट इन इंडिया
https://www.youtube.com/watch?v=wOk6uaW8AuE

वीना मजूमदार जी.एफ़.पी. इंटरव्यू
https://www.youtube.com/watch?v=E0vcZe8WJ5g

द थ्री वेव्स ऑफ़ इन्वायरन्मेन्टलिज़्म इन इंडिया
https://www.youtube.com/watch?v=vnKprWbTNPc

गाँधी, इन्वायरन्मेन्टलिज़्म एंड द वर्ल्ड टुडे
https://www.youtube.com/watch?v=ptDOZ2mt6xQ

पैज़ेंट्स, लैंडलेस लेबर, रूरल क्रैडिट एंड इन्डैटेडनैस इन कलोनियल रूल.I
https://www.youtube.com/watch?v=g5U2PICqRGw

रीथिंकिंग इंडियन लेबर हिस्ट्री
https://www.youtube.com/watch?v=PwERkLTXMho